International Journal of Humanities and Social Science Research
ISSN: 2455-2070
www.socialresearchjournals.com
Volume 1; Issue 2; December 2015; Page No. 126-131

संस्कृत वाड्.मय एवं सामाजिक परम्परा

डॉ. माधवी शर्मा

(प्राचार्य), डी. बी. (पी. जी.) महाविद्यालय, खेरली (अलवर)

वेद भारतीय संस्कृति के मूल स्त्रोत हैं। सामाजिक जीवन का वास्तविक ज्ञान वेदों एवं वैदिक साहित्य से होता है। वेद भारतीय संस्कृति की आत्मा है। ये मानव समाज के लिए प्रकाष स्तम्भ हैं।
वेदों के अनुषीलन से ज्ञात होता हैं कि समाज मनुष्यकृत न होकर दैवीय संस्था है। समाज भौगोलिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त है अर्थात समाज की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती है। समाज का सम्बन्ध न तो देष से है और न ही काल से है। वैदिक चिन्तन के अनुसार समाज का सम्बन्ध मानव मात्र से है। जैसे ही मानव की सृष्टि हुई, वैसे ही समाज की सृष्टि हुई। मानव का जीवन समाज से ही प्रारम्भ होता है और उसका अन्त भी समाज में ही होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद में समस्त ब्रह्माण्ड को ही महामानव की संज्ञा दी है। विराट पुरूष का वर्णन करते हुए कहा है–

चन्द्रसा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रष्चाग्निष्च प्राणाद् वायुरजायत।।
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिषः श्रोतातः।। [1]

अर्थात् सूर्य उसका नेत्र है, चन्द्रमा उसका मन है, अग्नि उसका मुख है, वायु उसका प्राण है, अन्तरिक्ष उसकी नाभि है, द्युलोक उसका सिर है, पृथ्वी उसका पैर है, दिषाऐं उसका कान है। समाज का निर्माण इसी महामानव ब्रह्मा से हुआ है।
समाज के निर्माण करने के लिए संघटक गुणों की आवष्यकता होती है। विषिष्ट गुणों के बिना समाज का निर्माण नहीं हो सकता। ज्ञान, रक्षणशक्ति प्रजा के भरण–पोषण की सामर्थ्य, श्रमषक्ति और एकता की भावना। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य और शूद्र इन समाज के चारों वर्ण इन चारों गुणों के प्रतीक थे। ब्राह्मण ज्ञान का प्रतीक, राजन्य (क्षत्रिय) रक्षण शक्ति, वैष्य प्रजा पालन और शूद्र श्रम शक्ति है। इन चारों में परस्पर एकता की भावना होना आवष्यक है।
वेदों के अनुसार आदर्ष समाज वह है जिसमें कार्य विभाजन की योजना के अनुसार समाज का संगठन होता था। कार्य विभाजन की प्रणाली होने पर भी उसमें मौलिक एकता की आवष्यकता होती थी।
इस प्रकार वैदिक समाज में ये पांच गुण होते थे। अविकृत रूप में इन पांच गुणों के मौजूद होने पर ही वह आदर्ष समाज कहलाता था। जिस समाज में इन गुणों के आधार पर कार्य विभाजन होता है, सभी वर्गो, सभी व्यक्तियों का समान रूप से कल्याण होता है उसी समाज का सर्वोदय होता है।
आदर्ष समाज के लिए समाज के सदस्यों का एक लक्ष्य होना आवष्यक है। यजुर्वेद में इस तथ्य को बताया है–

'लोकं पृण, छिद्रं पृण'।[2]

लोक कल्याण को सर्वप्रथम रखो और जनहित में बाधक तत्व को या छिद्र को दूर करो।
महाभारत में आदर्ष समाज के लिए कहा है –

प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठम् आत्मसाक्षिकमच्छलम्।
सर्वलोकहितं धर्म, क्षात्रियेषु प्रतिष्ठितम्।। [3]

अर्थात् सुख और शान्ति का पूर्ण अस्तित्व, छल कपट का अभाव, सारे समाज का हित और कल्याण समाज का लक्ष्य होना चाहिए।
शुक्रनीति में समाज के लक्ष्य के विषय में लिखा है –

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।। [4]

अर्थात् सभी लोगों का हित करना और समाज को सुरक्षित रखना एवं पुरूषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति समाज का लक्ष्य है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य में चार तत्व हैं– धर्म (कर्तव्यपालन), अर्थ (धन और वैभव की उपलब्धि) काम (सभी कामनाओं की तृप्ति) और मोक्ष (निर्वाण की प्राप्ति)। इस पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति के लिए समाज में शान्ति की व्यवस्था, सुख–सुविधाओं की प्रचुरता तथा विघ्नों का शमन करना।
जिस प्रकार से मकान, शरीर, मोटर साईकिल, घड़ी आदि की सरंचना होती है, उसी प्रकार से समाज की भी संरचना होती है। समाज की संरचना में अनेक लघु व दीर्घ इकाइयाँ होती हैं, यथा–परिवार, संयुक्त परिवार, वंष समूह, द्वैतीयक समूह, संस्थाएँ, मूल्य व प्रस्थितियाँ आदि। सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाईयाँ परस्पर एक–दूसरे से संबद्ध, परस्पर निर्भर व अर्थपूर्ण ढंग से जुडी होती हैं। अतः इन इकाईयों में परस्पर प्रकार्यात्मक एकता होती है।
इस प्रकार समाज की व्यवस्था, संगठन, निरंतरता, संतुलन व विकास आदि सरंचना की निर्मायक इकाईयों के प्रकार्यो पर निर्भर करते हैं। यदि इकाईयाँ प्रकार्य संपन्न नहीं करे तो समाज असंतुलित व अव्यवस्थित होकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार समाज निर्माण के आवयविक सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय वेदों को हैं।
वैज्ञानिक तथ्यात्मक ज्ञान जब समाज के दैनिक सामाजिक जीवन में परम्परा या रीति रिवाज के रूप में समाहित हो जाते हैं तो वही संस्कृति बन जाती है। भारतीय संस्कृति वेदों की अजर अमर पावन ऋचाओं से सम्पन्न वैदिक ऋषियों के तपोबल, मनन, आध्यात्मिक संवेदनाओं और वैज्ञानिकता से ओत–प्रोत है। यह भारतीय मनीषियों के गम्भीर एवं गहन दृष्टि का परिचायक है।
समाजषास्त्री मैकाइवर ने समाज को परिभाषित करते हुए कहा है – ''समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।'' समाज विषय के विभिन्न समाजषास्त्रियो के विचार पूर्ण रूपेण हमें वेदों व स्मृतियों में प्राप्त होते हैं। कारण है कि समाज की उन्नति प्रगति, विकास और उत्कर्ष के लिए वेदों में पर्याप्त चिन्तन और मनन हुआ है। यदि वेदों व स्मृतियों में ऋषियों के द्वारा वर्णित निर्देषों का निर्वहन किया जाए तो समाज में व्याप्त बुराइयां खत्म हो जाऐंगी और समाज उत्तरोत्तर शान्ति व उन्नति की ओर अग्रसर हो जाएगा।
सामाजिक जीवन में सामाजिक मूल्य एवं जन कल्याण के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था आश्रम, संस्कार, षिक्षा, नारी जीवन महिमा, समाज के

प्रति कर्त्तव्य, परिवार के प्रति कर्त्तव्य, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य, प्राकृतिक चेतना आदि विषयों का अनुषीलन किया गया है।
ब्राह्मण विराट पुरूष का मुख है, क्षत्रिय बाहू है, वैष्य उदर या मध्य भाग है और शूद्र पैर है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों का नाम अनेक बार आया है, और इनके कर्त्तव्यों का बोध भी इसमें बताया है।

वर्ण व्यवस्था :– ऋग्वेद में सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था का उल्लेख हुआ है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजान्य कृतः।
उरू तदस्य यद् वैष्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्।।[5]

यजुर्वेद में कहा है –

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरूद्भ्यो वैष्यं तपसे शूद्रम्।[6]

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है ब्रह्मन्, ज्ञान, षिक्षा और धर्म विषयक समस्त कार्य, क्षत्रिय का कर्त्तव्य है क्षत्र, राष्ट्र और देष की सुरक्षा, वैष्य का कर्त्तव्य है मरूत देवों के समान व्यापार करना, धन का आदान – प्रदान करना। वर्ण व्यवस्था के रूप में चारों वर्णो का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है – चार वर्ण है ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैष्य व शूद्र।

चत्वारो वैः वर्णाः। ब्रह्मणो राजन्यो वैष्यः शूद्रः।[7]

वेदों में ब्राह्मण के लिए विप्र शब्द का प्रयोग हुआ है। विप्र शब्द का अर्थ है – विप् त्र ज्ञान, बुद्धि, र त्र युक्त। इस प्रकार विप्र का अर्थ है ज्ञानी। चारों वेदों में ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है– ब्राह्मण सत्यवादी हो और सत्य का आचरण करें। यह सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करे, नियमित यज्ञ करे। ब्राह्मण की वाणी में ओजस्विता और तेज होता है। इसलिए वह अग्निजिह्वा है।
क्षत्रिय के गुण–कर्मों का वर्णन हमें चारों वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है– क्षत्रिय सूर्यवत् तेजस्वी हो। क्षत्रिय से प्रजा संरक्षण की कामना की गई है।

क्षत्रियमान् अव आदित्यान् याचिषामहे।[8]

यजुर्वेद में कहा है – क्षत्रिय शूरवीर हो, धनुर्विद्या से पारंगत हो, दूर तक लक्ष्य भेदन करने वाला हो और उसमें क्षात्र शक्ति हो।[9]

राजन्य शूर : इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, जिष्णू रथेष्ठाः।[10]

अथर्ववेद क्षत्रिय के लिए राष्ट्र की रक्षा करने का निर्देष दिया है।

तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।[11]

क्षत्रिय आन्तरिक विवादों को शान्त करे, प्रजा की अभीष्ट पूर्ति करे, राष्ट्र की रक्षा करे।
वेदों राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों को साथ चलने का आदेष दिया है।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ चरतः सह।
ते लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं, यत्र देवाः सहाग्निना।।[12]

ऋग्वेद में वैष्य के विषय में कहा है कि वैष्य राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को संभालता है। दान – पुण्य वाणिज्य, व्यापार आदि का कार्य वैष्य करते थे।
यजुर्वेद में वैष्य को समाज के पालन पोषण का उत्तरदायित्व दिया है।
शूद्र को वेदों में समाजरूपी शरीर का आधार बताया है। शूद्र के लिए षिल्प, सेवा कार्य और श्रमसाध्य कार्य कर्त्तव्य रूप में बताएं हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में शूद्र को विराट पुरूष का पैर कहा है।

पदाभ्यां शूद्रा अजायत्।[13]

शूद्रों को वेदों में वेदाध्ययन का अधिकार दिया है। शूद्रों को राजा के निर्वाचकों से भी स्थान दिया है।
वैदिक काल में चारों वर्ण परस्पर अपने – अपने कर्मो को करते हुए समाज की उन्नति में सहयोगी थे।
वेदों में वर्णित वर्णव्यवस्था वृत्तिमूलक है, जातिमूलक नही। ब्राह्माण को मुख कहने का अर्थ है कि वह मुख का कार्य करता है। ये कार्य हैं– ज्ञान का प्रसार, धार्मिक क्रिया कलाप, शास्त्रार्थ आदि। इसी प्रकार क्षत्रिय या राजन्य को बाहु कहने का अभिप्राय है – पराक्रमी कार्य, रक्षण कार्य और अस्त्र–षस्त्र से संबद्ध कार्य। वैष्य को मध्य भाग या उदर कहने का अर्थ है – उदर के समान धन–संग्रह करना और उसका यथोचित उपयोग। इसमें व्यापार और वाणिज्य से संबद्ध समस्त विषयों का समावेष होता है। समाज की अर्थव्यवस्था का संचालक और नियन्त्रक वैष्य ही है। शुद्र के पाद होने का अभिप्राय है– जिस प्रकार पैर गमन–आगमन का साधन है, शरीर का भार ढोते हुए उसे क्रियाषील बनाता है, उसी श्रम से संबद्ध समस्त कार्यो को सम्पन्न करके समाज को गतिषील, क्रियाषील और विकासषील बनाना।
मनु, महाभारत, गीता आदि में निर्देष है कि वर्णो की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की गयी है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि –

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागषः।[14]

अर्थात् गुर्ण और कर्मो के आधार पर ही चातुर्वष्य की सृष्टि की है। इसी गुण और कर्म जनित वर्ण व्यवस्था के लिए गीता में श्रीकृष्ण ने पुनः कहा है –

ब्राह्मणक्षत्रियविषां, शुद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर्गुणैः।[15]

अर्थात् स्वभाविक गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य और शुद्रों के कर्त्तव्यों का निर्धारण किया जाता है।
षिक्षा का मूल उद्देष्य षिक्षार्थी के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना है।

यमेवः विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचोपपन्नम्। [16]

विद्या एक अमूल्य निधि है, इसलिए यास्क ने निरूक्त में विद्या को प्राप्त करने वाले व्यक्ति की पात्रता बताई है कि यह विद्या योग्य, जिज्ञासु, संयमी, अप्रमादी, मेधावी, गुरूभक्त होना चाहिए।

संस्कार

हमारा प्रत्येक कार्य संस्कार से आरंभ होता था। ऋषि मुनियों ने मानव जीवन को पवित्र एवं मर्यादित बनाने के लिए संस्कारों का आविष्कार किया । इन संस्कारों का धार्मिक ही नहीं वैज्ञानिक दृष्टि

से विषेष महत्व है। संस्कार का अर्थ है शुद्धीकरण। संस्कृत वाड्मय में बताया है कि संस्कारों से गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है। मनुष्य दो प्रकार से योग्य बनता है, पूर्व कर्म के दोषों को दूर करके और नए गुणों के जन्म लेने से। ये संस्कार मानव को इसी जीवन में पवित्र नहीं करता वरन् उसके पारलौकिक जीवन को भी सुखान्त बनाता है।
संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति विषेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से था। ये संस्कार वैवाहिक जीवन के कर्त्तव्यों के प्रतीक भी थे। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में कहा है –

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः र्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।
गार्भेर्होमैजतिककर्म जातकः चौड मौजीनिबन्धनैः।
बैजिक गार्भिक चैनो द्विजानामपमृज्यते।।[17]

जो माता– पिता अपनी संतान के संस्कार नहीं करते हैं वे जनक मात्र हैं तथा पशु सदृष हैं (जो इन्द्रिय–तृप्ति मात्र के लिए सन्तान उत्पन्न करते हैं।)
गर्भाधान तथा अन्य संस्कारों की क्रियाऐं शरीर को शुद्ध करती हैं तथा इहलोक और परलोक में भी मनुष्य को पाप से विमुक्त करती हैं। विषिष्ट संस्कारों को किए जाने से व्यक्ति के जन्मगत दोष नष्ट हो जाते हैं। शंकर ने वेदान्त सूत्र के भाष्य में यही अभिमत स्पष्ट किया है –

संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेनवा ।[18]

संस्कारों का प्रयोजन मानव व्यक्तित्व का सर्वाड्गीण विकास है। संस्कार जीवन के प्रगति मार्ग में सुन्दर सोपान के सदृष जो मानव के मनोविचारों तथा प्रवृत्तियों को शुद्ध करते हुए उसे निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं। मनुस्मृति में लिखा है –

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैम्त्रैविद्येन ज्यया सुतैः।
महायज्ञैष्च यज्ञैष्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।[19]

गर्भावस्था से ही इन संस्कारों का विषिष्ट प्रयोजन है। अपरिवक्व मस्तिष्क पर संस्कारों की विभिन्न क्रियाऐं अपना दृढ एवं दूरगामी प्रभाव छोडती हैं। संस्कारों से शुद्ध हुआ शरीर ही ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। मनु ने कहा है कि इन संस्कारों से केवल शरीर की ही शुद्धि नहीं होती है अपितु आत्मा की भी शुद्धि होती है।

न हि कर्मभिरेव केवलै ब्रह्मात्वप्राप्तिः प्रज्ञान कर्मसमुच्चयात् किल मोक्ष :।
एतैस्तु संस्कृतः आत्मनोपसनास्वाधिक्रियते।।

वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाष में कहा है कि ' ब्राह्म संस्कार सम्पन्न व्यक्ति ऋषि पद प्राप्त कर लेता है तथा दैव संस्कार सम्पन्न व्यक्ति देव पद प्राप्त करता है।[4] पाराषर स्मृति में कहा है –

चित्रकर्मयथाऽनेकैर्रगैरून्मीयते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्धत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः।।[20]

जिस प्रकार कोई चित्र सुंदर रंगो के समायोजन से शनैः शनैः अपने सौन्दर्य को उद्घटित करता है उसी प्रकार विधि विधानपूर्वक किए गए, संस्कारों से व्यक्ति में ब्रह्माण्य प्रतिष्ठित होता है। संस्कारों से आत्मा की शुद्धता संस्कारों के आध्यात्मिक पक्ष को दर्शाती है।

संस्कारों की संख्या 16 है

1. गर्भाधान संस्कार।
2. पुंसवन संस्कार।
3. सीमान्तोनयन संस्कार।
4. जातकर्म संस्कार।
5. नामकरण संस्कार।
6. कर्णबेध संस्कार।
7. निष्क्रमण संस्कार।
8. अन्नप्राषन संस्कार।
9. चूडाकरण संस्कार।
10. विद्यारम्भ संस्कार।
11. उपनयन संस्कार।
12. वेदारम्भ संस्कार।
13. केषान्त संस्कार।
14. समावर्तन संस्कार।
15. विवाह संस्कार।
16. अन्त्येष्टि संस्कार।

आश्रम व्यवस्था :– संस्कृत वाड्.मय में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। ऐसी जीवन प्रक्रिया जिसमें व्यक्ति कठिन परिश्रम करे वह आश्रम है 'आश्रयन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'। आश्रम व्यवस्था का निर्वहन करते हुए, प्रत्येक आश्रम के सोपान पर चढकर ज्ञान अर्जित कर सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त कर सांसारिक भोगों का उपभोग कर, मोक्ष की प्राप्ति । ब्रह्मचर्य आश्रम आधार स्तम्भ है। गृहस्थ जीवन की भौतिक उन्नति का संकेतक है। वानप्रस्थ मोक्ष प्राप्ति की प्राथमिक प्रक्रिया है और सन्यास ईष्वर से साक्षात्कार एवं मोक्ष प्राप्ति का सफल कारक है।
मनुस्मृति में लिखा है –

ब्रह्मचारी गृहस्थष्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाष्चत्वारः पृथगाश्रमाः।।

आश्रम व्यवस्था में सर्वप्रथम आश्रम शब्द का प्रयोग श्वेताष्वतर उपनिषद में प्राप्त होता है।
अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त ब्रह्मचर्य विषयक है। इसके मंत्रों में ब्रह्मचर्य का महत्व, कर्त्तव्यों आदि का वर्णन है। ब्रह्मचर्य से देवत्व की प्राप्ति होती है, तेजस्विता प्राप्त होती है।
ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। उपनयन संस्कार में बालक को ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य के समीप ले जाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण और आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तीन दिन के परीक्षण और तदनन्तर गायत्री मन्त्र की दीक्षा को बालक का नया जन्म कहा है।[1]
ब्रह्मचारी तपोमय जीवन व्यतीत करे। ब्रह्मचारी अपने मन, वाणी एवं बुद्वि को पवित्र रखे। गुरू से ज्ञान और ब्रह्मविद्या प्राप्त करे उसकी विधिवत् रक्षा करे।

तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी[21]

और

स आचार्यं तपसा पिपर्ति।[22]

गृहस्थ आश्रम सर्वोत्कृष्ट है। मनु ने कहा है – जिस प्रकार सारे प्राणियों के जीवन का आधार वायु है उसी प्रकार सभी आश्रमों का आधार गृहस्थ आश्रम है। गृहस्थ आश्रम ही अन्य तीन आश्रमों को ज्ञान, षिक्षा और अन्नादि देता है, अतः वही सर्वश्रेष्ठ है।

यथा वायुं समाश्रित्य, वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।
तस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धायन्ति, तस्माज्जेष्ठाश्रमोगृही।।[23]

वानप्रस्थ और संयास आश्रम का उल्लेख वेदो में कम है। वेदों में प्रयुक्त यति, मुनि मुमुक्षु आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो कि इनका द्योतक है।
इन दोनों आश्रमों में भौतिक कर्मो से निवृत्त होकर मनन, चिन्तन, स्वाध्याय धारणा, ध्यान आदि में संलग्न रहते हैं।
अथर्ववेद में मुनि केषम् शब्द आया है, इसमें ज्ञात होता है कि मुनि लोग जटा रखते थे। वे तत्वज्ञानी थे। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है कि मुनि पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इन तीनों एषणाओं को छोडकर मान–अपमान से ऊपर उठकर ब्रह्म चिन्तन में मग्न रहते है।[24]
ऋग्वेद और श्वेताष्वर उपनिषद में मुमुक्षु शब्द का प्रयोग मिलता है। सन्यास आश्रम में मोक्ष के लिए प्रयास किया जाता है, जिससे जीवन ज्योर्तिमय, आत्ममय और ब्रह्ममय हो जाता है।

<u>शिक्षा</u> :– अथर्ववेद में कहा है

वर्धमैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।
संषितं चितं संतरं षिषाधि।।[25]

षिक्षा का उद्देष्य षिष्य का सर्वाङ्गीण विकास, उसकी ज्ञान ज्योति को प्रबुद्ध करना, उसके जीवन को सौभाग्यषाली बनाना है।
विद्या अर्जित करने वाले विद्यार्थी में ज्ञान के साथ – साथ विवेक का भी समन्वय होना आवष्यक है।

शं सरस्वती सह धीमिरस्तु ।[26]

ज्ञान के साथ विवेक की अनिवार्यता का मुख्य कारण ज्ञान से दर्प (अहंकार) की अस्पर्षता है। षिक्षा का मूलाधार संस्कृत वाड्.मय में मेधा, मुमति और बुद्धि को बताया है।

नारी जीवन – वेदयुगीन महिलाऐ, वैदिक वाड्मय का विधिवत् अध्ययन करती थी एवं यज्ञों में भाग लेकर मंत्रोच्चार भी करती थी। वैदिक समाज में धर्म के नाम पर महिलाओं के प्रति दुराचार नहीं किया जाता था। विवाह संस्कार सम्पन्न होने के बाद कन्याऐं अधिक सम्मान की पात्र हो जाती थी। प्रारम्भिक वेद युग में पत्नी ही यज्ञ में सोमगीतों का गान करती थी। ऋग्वेद के मतानुसार स्त्री ही घर है। अथर्ववेद में कहा गया है कि '' नववधु तू जिस घर में जा रही है वहाँ की तू साम्राज्ञी है''। तेरे ननद, सास, देवर व अन्य तुझे साम्राज्ञी समझते हुए तेरे शासन में आनन्दित हों। वैदिक काल में महिलाओं को षिक्षा एवं साहित्य के अध्ययन करने की पुरूष के समान समानता थी। उसको काव्यकला, शास्त्रविद्या, ललित कलाओं, संगीत, नृत्य,अभिनय आदि की भी षिक्षा देने की व्यवस्था की गयी है। काव्यकला के आधार पर वे मन्त्रदृष्टा ऋषिकाऐं हुई हैं। शस्त्र विद्या की षिक्षा के द्वारा योद्वा, सेनानी और शत्रुविजयिनी हुई है। नृत्य–गान आदि का ज्ञान अर्जित कर वे नृत्यकला व संगीत में निपुण हुई है।

परिवार – समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। परिवार का उद्देष्य है उसमें रहने वाले व्यक्तियों को सुखी, स्वास्थ और प्रसन्न रखना। वैदिक काल में संयुक्त परिवार प्रथा थी। परिवार पुरूष प्रधान होता था। परिवार के प्रत्येक सदस्य के कर्त्तव्यों का वर्णन वेदों में मिलता है।
ऋग्वेद में पति के कर्त्तव्य के विषय में कहा है, पति सौभाग्य के लिए पत्नी का पाणिग्रहण करता है और कहता है कि मैं उसके पालन – पोषण का उत्तरदायित्व लेता हूँ।

ग्रभ्वामि ते सौभागत्वाय हस्तम्।[27]

और

मयेयमस्तु पोष्या।[28]

अथर्ववेद में पत्नी के लिए कहा है – पत्नी का कर्तव्य है कि वह पूरे परिवार को सुख दे। वह पति, सास–ससुर और मान्य जनों की सेवा करे।

स्योना भव श्वषुरेम्यः स्योना पत्ये गृहेम्यः। [29]

वेदों में पत्नी को बच्चों को षिक्षित करने एवं यज्ञ हवन करने, वंष परम्परा के लिए संतोनोत्पत्ति करने का निर्देष है।
ऋग्वेद में लिखा है –

सुरतेसा पितरा अमृतं वरीमिभिः।[30]

माता–पिता अपने पुत्र–पुत्रियों को ऐसा संरक्षण दें कि वे अपनी संतान को योग्यतम बना सके। वह अपने संतानों की सदा रक्षा करें।
भाई–बहिन अथर्ववेद में लिखा है –

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्, मा स्वसारमुत स्वसा।[31]

भाई– भाई, भाई –बहिन और बहिन–बहिन प्रेम से रहें उनमें परस्पर द्वेष की भावना न हो।
पुत्र–पुत्री यजुर्वेद में कहा है– वेदों में पुत्र का बहुत महत्व बताया है।

एतत तद्ग्ने अनृणो भवामि, अहतौ पितरौ मया।

पुत्र के जन्म के समय माता–पिता अपने पितरों के ऋण से उऋण होते हैं। पुत्र वंष परम्परा को अविच्छिन्न करता है।
पुत्र के समकक्ष ही पुत्री का स्थान होता है इस भाव को व्यक्त करते हुए मनुस्मृति में कहा है –

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठनयां कथमन्यो धनं हरेत।।[32]

विवाह – भौतिक सुख प्राप्ति,षरीरिक सुख प्राप्ति व संतान प्राप्ति के लिए विवाह प्रथा प्रारम्भ हुई। पारिवारिक व आर्थिक समृद्वि के लिए वर की आवष्यकता हुई और गृहव्यवस्था के लिए वधू की। वर –वधु के इस समन्वय के लिए विवाह एक सामाजिक आवष्यकता है।
वैदिक काल में आठ प्रकार के विवाह बताए हैं– ब्राह्वा, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैषाच।
मनुस्मृति में विवाह की संख्या बताते हुए लिखा है –

ब्राह्वादैवस्तथैवार्षः, प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसष्चैव, पैषाचष्चाष्टमोऽधमः।।

वेदों में बाल विवाह व सगोत्र विवाह का निषेध था। ऋग्वेद में सवर्ण विवाह को वैध कहा है।
वेद विष्व शान्ति, विष्व बन्धुत्व और विष्व कल्याण के प्रथम उद्घोषक है। वेदों की ज्योति ने ही आदर्ष सामाजिक जीवन का मार्ग प्रषस्त किया है।

आहार – वैदिक काल में आहार व्यवस्था सरल थी। घी, दूध, दही, चावल तथा जौ मुख्य भोज्य
पदार्थ थे। दलहन में मुद्ग (मूंग) तथा माष (उडद) का ही उल्लेख मिलता है। लवण का प्रचलन नहीं था। शाक और फल पर्याप्त मात्रा में खाए जाते थे। घृतवन्त अपूप, क्षरिपाकौदन तथा करम्भ प्रिय भोज्य पदार्थ थे। वैदिक काल में मांसाहार का प्रचलन था। बकरे, भेड तथा बैल के मांस का भक्षण किया जाता था। सोमपान यज्ञ के समय मुख्य पेय था। ऋग्वेद मे अनेक मन्त्रों में सुरापान का उल्लेख मिलता है। वेदों में बिल्ब, उटुम्बर, कर्कन्धू, उर्वारूक, उर्वारू, पीलू, पिप्पल और कुवल आदि का प्रयोग मिलता है।

वसन तथा आभूषण – वैदिक काल में 'वास' अधोवस्त्र तथा 'अधिवास' ऊपर के वस्त्र का प्रयोग मिलता है। वेदों में तीन प्रकार के वस्त्र 'वासस्', 'तार्प्य', 'क्षौम' तथा ऊर्णायु शब्द का उल्लेख मिलता है। बुनाई का काम स्त्री तथा पुरूष दोनों के द्वारा किया जाता था। बुनाई क्रिया का चित्रण अथर्ववेद के मन्त्र में करते हुए कहा है – कालचक्र एक करघा है, इस करधे पर दिन और रात्रि रूपी दो स्त्रिया वर्षरूपी वस्त्र. बुनती है। इसमें 6 ऋतुऐं 6 खूंटिया हैं। रात्रि ताना है और दिन बाना है। ताना–बाना रूपी दो स्त्रियां है। इन दोनों स्त्रियों में से एक धागे को फैलाती है और दूसरी समेटती है।
वस्त्रों के निर्माणकर्ता वेदों में मनु को बताया है अथर्ववेद में कहा है राजा सोम को पहनाने के लिए बृहस्पति ने सुन्दर वस्त्र दिए।

बृहस्पति प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे। [33]

वेदों में वस्त्रों के लिए अधोवस्त्र, अधिवास, अधिवस्त्र, उपवासन, पर्यावहन, अल्क, द्रापि, पेषस, नीवि, उष्णीय और उपानह्।
वेदों में आभूषणों का वर्णन प्राप्त होता है। आभूषणप्रियता स्त्री, पुरूष दोनो में विद्यमान थी। रत्न धारण करने वाले को 'रत्नधा' और 'रत्निन्' कहते थे। स्वर्णाभूषण के प्रति आकर्षण था। मुख्य पहने जाने वाले आभूषण निष्क, रूक्म्, हिरण्य, कर्णषोभन, कृषन, मणि, रत्न, आदि थे। वेदों से ज्ञात होता है कि स्वर्ण निर्मित जंजीर या ताबीज बांधने से, दीर्घायु, वर्चस्विता और बलवृद्धि की प्राप्ति होती है।

'यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः। [34]

ऋग्वेद में कहा गया कि स्वर्ण अलंकार धारण करने से मनुष्य अकालमृत्यु से बचकर दीर्घायु होता है।[35]
केशविन्यास का प्रचलन था। कपर्द, कुरीर, कुम्ब, ओपष, केषवर्धन आदि केषविन्यास के प्रकार थे।

मनोरंजन – वेदिक काल में जीवन आनन्द से व्याप्त था। आमोद – प्रमोद के मुख्य साधन अष्व दौड तथा रथ दौड थे। द्यूत क्रीडा भी मनोरंजन करने का एक माध्यम था। नृत्य और संगीत का भी प्रचलन था। अथर्ववेद में नृत्य में सज,धज, कर श्रंगार तथा विविध रूप धारण करने की तुलना मोर, गन्धर्व और अप्सराओं से की गयी है।

आनृत्यतः षिखाण्डिनो नृत्यन्ति ..... व्यैलबाः।[36]

परिवार के समस्त सदस्य मिलकर सामूहिक रूप से नृत्य करते थे। पृथ्वी सूक्त में उल्लेख है –

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति ..... व्यैलबाः।[37]

मनुष्य आनन्द विभोर होकर विविध रागों में गाते और नाचते हैं। सामूहिक नृत्य चारों ओर घूमकर होता था। स्त्रियों के साथ–साथ पुरूष भी नृत्य करते थे। संगीत भी वैदिक काल में प्रचलित था।
संस्कृत वाड्मय में निहित मानव मूल्य एवं जन कल्याण की भावना केवल भारतीय संस्कृति के आधार सतम्भ ही नही है अपितु वर्तमान मानव समाज के सामाजिक मूल्यों, आदर्षो के मानक हैं, सामाजिक समस्याओं के निवारणार्थ मार्ग दर्षक भी हैं।
वर्तमान समय में भौतिकता के आकर्षण एवं पाष्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण से ग्रस्त मानव सांस्कृति सामाजिक मूल्यों एवं मानव धर्म से हटकर उपभोक्तावादी संस्कृति के व्यामोह से आक्रान्त हो रहा है, मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। ऐसी भयावह विषम, प्रतिकूल परिस्थिति में आवष्यकता है, भटकते हुए जनमानस को संस्कृत वाड्मय में निहित सामाजिक मूल्यों से अवगत कराने की एवं इन मूल्यों को, मान्यताओं को उनके आचरण में लाकर कर्त्तव्य पथ पर आगे बढने के लिए प्रेरित करने की।

संदर्भ सूचि

1. ऋग्वेद – 10.10,13–14
2. यजुर्वेद – 15.51
3. महाभारत, शान्तिपर्व 64.5।
4. शुक्रनीति – 1.5 ।
5. ऋग्वेद –10.10.12
6. यजुर्वेद – 30.5
7. शतपथ ब्रह्मण
8. ऋग्वेद – 8.67.1
9. यजुर्वेद – 22.22
10. अथर्ववेद – 5.17.3
11. यजुर्वेद – 20.25
12. ऋग्वेद – 10.10.12, यजुर्वेद – 31.11, अथर्ववेद –19.6.6
13. गीता 4.13।
14. गीता 18.41।
15. यास्क, निरूक्त – 2.4
16. मनुस्मृति 2/26–27।
17. वेदान्त 1/1/4
18. मनुस्मृति
19. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाष खंड 1 पृ. 139।
20. पाराषर स्मृति 8/19
21. शतपथ ब्राह्मण – 11.5.4.22। आपस्तम्ब धर्मसूत्र – 1.1.16.18
22. अथर्ववेद – 11.5.10
23. अथर्ववेद – 11.5.2
24. मनुस्मृति – 3.77.78
25. बृहदारण्यक उपनिषद – 3.5.1
26. मनुस्मृति – 6.87
27. अथर्ववेद – 18.3.1
28. ऋग्वेद – 10.85.36
29. अथर्ववेद – 14.152
30. अथर्ववेद – 14.2.27
31. ऋग्वेद – 1.159.2
32. अथर्ववेद – 3.30.3

33. मनुस्मृति 9.130
34. अथर्ववेद – 2.13.2।
35. अथर्ववेद – 2.13.2।
36. अथर्ववेद – 1.35.2।
37. यजुर्वेद – 34.50 से 52 तक।
38. अथर्ववेद – 12.1.41